परमतत्व की खोज

निकोलाय ज़्बेरिया (१९०८-१९९०)

बुकरेस्त
३० सितम्बर २०२५

(अलेकु गीक उर्फ़ फलाहारि बाबा - एक रुमानियन जिसने जगन्नाथ पुरी में फलाहारी तपस्वियों का संप्रदय चलाया - निकोलाए उज्बेर्या)[1]

यद्यापि रुमानिया अपेक्षाकृत छोटा देश है, और अनेक सदियों तक तुर्कों की दासता के जुए के नीचे रहा, फिर भी स्वतंत्र होकर उसने शीघ्रता से अंतर्राष्ट्रीय और संस्कृतिक विकास के युग में प्रवेश किया। आज वह उन्नत्तिशील आधारों तथा सिद्धांतों पर नई अर्थ-व्यवस्था एवं संस्कृत का निर्माण कर रहा है॥

पराधीनता के युग में अत्यंत विषम ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण रुमानिया के लोग दूरवर्ती प्रदेशों में अधिक यात्रा नहीं कर सकते थे। परंतु रूमानिया के विविध प्रान्तों के एकीकरण और तुर्कों के अत्याचारों को दूर करने के बद १९ वीं सदी के उत्तरादद्धू में रुमानिया के यात्री समुद्रों को लांघ कर अनेक सुद्र देशों और स्थानों में पहुँचने लगे। असतु रुमानिया के यात्रियों और पर्यटकों का इतिहास खोलने पर हमें पहले पृष्ठों से ही बहुत से विशिष्ट व्यक्तियों का पता लगता है॥

१९ वीं सदी के पहले भी कुछ रुमानियों ने बहुत यातनाएं सहने कर दूरवर्ती देशों की यात्रा की थी। उनमें प्रमुख है कमंडर निकोलाए मिलेस्कु जिन्होंने सन् १६७५-१६७८ में साइबेरिया और चीन की साहसिक यात्रा की थी। इस संदम में रुमानिया के उत्तरी-पूर्वी प्रान्त मोल्दावियन के महान विद्वान दिमीत्रिय कंतेमीर का नाम भी उल्लेखनीय है जो १८ वीं सदी के शुरू में ईरान तक पहुँचे थे। वे मध्य-पूर्व के देशों की समस्याओं के दाता और इन देशों के साहितियक और संस्कृतिक गतिविधियों के विशेषत्य विद्वान थे॥

१९ वीं शताब्दी के अंत में रुमानिया के प्रकृतिविद्यान विशेषद्य ग्रेगोरिइ श्तेफ़नेस्कु ने मेक्सिको पहुंचे कर अपनी जन्मभूमि से हजारों मील दूर चट्टानी पहाड़ों को काटते हुए वैद्यानिक अन्वेषणों में अपना जीवन बीताया था। इसी प्रकार रुमानिया के ख्यातिप्राप्त वैद्यानिक एमील राकोवित्सा ने दक्षिनी अमरीका के अंटाकंटिक इलाके में प्रवेश कर बहुमूल्य वैद्यानिक अनुसंधान किये थे॥

सबसे पहले जिस व्यक्ति ने भारत वर्ष में प्रवेश किया, और भारत के साथ संबंधों की नींव डाली वह है विख्यात चिकित्सक और पुरातत्ववेत्ता यो० मा० होनिग्बेगेंर। होनिग्बेगेंर सन् १८२९ से १८६९ के बीच पांच बार भारत आया, जहाँ वह कुल मिला कर १६ वर्ष रहा। इस महान व्यक्ति का जन्म रुमानिया का मध्यस्थ प्रदेश त्रांसिल्वानिया के ब्रशोव नगर में सन् १७९४५ में हुआ धा। रसायन और औषध-निर्मान विद्यान में प्रविणता प्राप्त कर वह, पहले निकट-पूर्व गया जहाँ उसने चिकित्सा विद्यान और शल्य विद्यान का सफल प्रयोग कर नाम कमाया। सन् १८२६ में वह लाहोर और कुछ समय तक उसके राजा रणजीत सिंह के वैयक्तिक चिकित्सक के रूप में भी काम किया। इसके बाद उसने बंगाल तक की यात्रा की॥

भारत में रहते हुए होनिग्बेगेंर ने चिकित्सा तथा औषध निर्माण- विद्यान और पुरातत्त्व के क्षोत्र (?) में महत्वपूर्ण अनुसंधान किये। उसने हैजे के इलाज पर, हिमालय की जड़ी-बूटियों औषधों के निमौण और उपयोग पर महत्वपूर्ण शोधग्रंथ लिखे। इनके अतिरिक्त उसने बुद्ध के अवशेषों, बोद्ध स्तूपों तथा उनकी वस्तुकला पर भी महत्वपूर्ण पुस्तकें लिखीं। यद्यपि वह जीवनभर हैजे के इलाज के अन्वेषण में लगा रहा, परंतु वह अपनी पुरातत्व विषयक खोजों के कारण अधिक विख्यात हुआ। पांच बार भारत की यात्रा करने और लगभग १६ वर्ष यहाँ बिताने पर भी उसकी जिद्यासा शांत नहीं हुई और उसने छठी बार भी भारत की यात्रा करने की तैयारी की, लेकिन बाद-किस्मती से यात्रा शुरू करने से पहले ही उसका देहावसान हो गया। होनिगवेगेर रुमानिया में इतना प्रसिद्ध है कि उसको प्रधान पात्र के रूप में चित्रित करते हुए रुमानिया के प्रख्यात उपन्यासकार मीचो एलियादे ने डक्टर

1 Text procesat de Dr. Carmen Leocadia Pesantez-Pozo pentru vol. Opere II - Nicolae Zberea, Bucuresti: Biblioteca Pedagogică „I.C. Petrescu”.

होनिगबेगेंर का रहस्य नामक उपन्यास लिखा है॥ होनिगबेगेंर के साथ रुमानियन यात्रियों का भारत आगमन का क्रम खत्म नहीं हुआ। इस क्रम में अलेकु गीका का नाम बड़े आदर के साथ लिया जा सकता है। वह भारत से इतना प्रभावित हो गया था कि आखिर हिंन्दू तत्वदर्शन, हिंदू चिन्तन-पद्धति और हिंद्र-धर्म का अटल अनुयायी हो गया। अलेकु गीका का इतिवृत्त बहुत ही रोमांचकारी है। इसका परिचय निस्संदेह भारतीय और रुमानियन इतिहासों में एक अभूतपूर्व घटना है॥

दूर देशों की यात्रा में गये रुमानियनों की और विशेषकर राजद्धतों के रूप में भेजे गये व्यक्तियों की अपने समय में बहुत चचा हुई है। आज भी वे भुलाये नहीं गये जा सकते। लेकिन उन चर्चित (?) और परिचित पर्यटकों की अपेक्षा उन गुमनाम यात्रियों की संख्या कहीं बड़ी है जिन्होंने विशिष्ट उद्देश्यों, रुचियों और उच्चाभिलाषाओं से प्रेरित होकर लंबी और कठिन यात्राओं का वीड़ा उठाया था। उनमें से कुछ लोगों ने साहसिक यात्रा करने की धुन में धनवान बनने की इच्छा से या अन्य किसी उद्देश्य से अपना देश छोड़ा था। लेकिन कुछ पर्यटक ऐसे भी थे - सच कहा जाए तो बहुत थोड़े ऐसे पर्यटक थे, जो रोमांटिक भावनाओं से स्वप्नों में खोये हुए पश्चिमी जीवन की उदासी और अर्थहिनता से ऊब कर एक बेहतर दुनिया की तलाश में थे और जीवन के सच्चे अर्थ को समझने के लिए अपना देश छोड़ने को प्रेरित हुए थे। उन्होंने जीवन की वास्तविकता का पता लगाने, अलौकिक आलोक की प्राप्ति करने और आत्मा और परमात्मा की समस्या के मूल तत्व के समाधान की अभीलाषा से, अपने को परमतत्व में विलीन करने की लालसा से, भारत की और प्रयाण किया था। अलेकु गीका इसी प्रकार के एक यात्री थे। निस्संदेह वे फक्कड यात्री थे, पर उनका फक्कड़पन निरुद्देश्य नहीं था। इस में चिंतन, अन्वेषण, साधना और तपस्या की तनन््मयत थी। प्रसिद्ध चित्रकार पोल गोगँ, जो अपनी साधान की खातिर ताहिती गया था, क्या एक अन्वेषक नहीं था? - और डाकर आल्बेट्ट श्वेत्सर जो चिकित्सा विद्यान के प्रयोग करने केलिए अफ्रीका के धने जंगलों में भटकता रहा क्या एक साधक नहीं था? और थोर हैयर्दल या उईलियम उईलिस विशाल प्रशांत महासागर पार करने केलिए मामूली से बेड़े पर चढ़ने को किसने मजबूर किया था? वही अनंत जिच्चासा, परम रहस्य की खोज और वही पूर्णता को प्राप्त करने की लालसा - फर्क सिर्फ़ उद्देश्यों की विभिनज्नता और साधनों की विविधता में है॥

जहां तक अलेकु गीका का संबंध है वे आज से एक सदी पूर्व अर्थात १९ वीं सदी में अपने पर्यटन पर निकले थे। उनके बारे में अभी हाल में ही पता लगा है, फिर भी अभी अधिक तथ्य द्यात नहीं हो सके हैं। पर इतना मालूम हो गया है कि उनका जन्म सन् १८०१ में हुआ था और वे उत्तरी मोल्दाविया के बोतोशानि नगर के अमाप्य ग्रिगोरे गीका के पुत्र थे। उन्होंने अपने पिता के पास रहते हुए ही चेनोंविप्स नगर से आये एक गुरू से शिक्षा पायी थी। उनकी प्रपौत्री एलेना गीका से द्रात हुआ है कि अलेकु गीका ने बचपन में ही असाधारण बुद्धिबल का प्रमाण दिया था, वे स्वभाव से अत्यंत संवेदनशील, भावुक और सूक्ष्मग्राही थे। पुत्र की असाधारण प्रतिभा को देख कर उसे उच्च शिक्षा दिलाने के उद्देश्य से पिता ने उसे अपने भई योदोके के पास जर्मनी के वाइमार नगर भेजा। अपने अध्यायन को आगे बढ़ाने के लिए वह सन् १८१८ में येना नामक जर्मनी के एक दूसरे नगर के विश्वविद्यालय में भर्ती हुए। जहाँ उन्होंने भाषा-विद्यान और दर्शन का उच्च अध्ययन किया। अध्ययन की समाप्ति पर विशेष योग्यता के साथ परीक्षाओं में उत्तीणं होकर उपाधियों को लेकर सन् १८२६ में वह घर लौटा। पुत्र के घर लौटा ने पर पिता ने उसे अपने रोमान जिले की जमींदारी की एक जागीर बोतेश्ति सौंप दी और वह उसकी देखरेख में वहाँ रहने लगा॥

जब अलेकु गीका अपनी जागीर के काम में लगा हुआ था, उस समय रुमानिया में शाल फुरिये की विचारधारा का जोरदार प्रचार होने लगा था। कुछ बुद्धिजीवी फुरिये के काल्पनिक समाज-वाद के समर्थक भी हो गये थे। आश्चर्य नहीं कि इन विचारों ने भावुक अलेकु गीका को भी प्राभावित किया हो। फुरिये के विचरों से प्रभावित अलेकु गीका ने अपनी जागिर में काम करनेवाले कुछ दासों को स्वतंत्र

कर दिया और किसानों का लगान कम कर दिया। इसी कारण पुराने विचारोंवाले पिता के साथ संघर्ष होना आरंभ हो गया॥

प्रगतिशील विचारों से प्रभावित पुत्र के साथ पिता का जो की बोतेश्ति में किये गये सुधारों के विरोधी थे, संघर्ष शुरू हो गया। जहाँ पुत्र किसानों और मजदूरों को राहत दिलाने में प्रयत्न-शील था वहाँ पिता ने उनके साथ अमानुषिक व्यवहार करना शुरू कर दिया। पिता-पृत्र के बीच इस प्रकार संघर्ष चलता रहा। इस संघर्ष ने उस समय और भी अधिक नाटकीय रूप धारण कर लिया जब पिता ने जागीर कोए पड़ोसी स्वतंत्र किसानों के खिलाफ़ सीमा संबंधी कई झूठे मुकद् में चलाये। ज़मीन के लालच में ग्रिगोरे गीका ने स्वतंत्र किसानों के साथ इतने अमानुषिक, निर्मम अत्याचार और जुल्म किये कि बोतोशनि के अमीर लोग भी उसको हिंसक समझने लगे। पिता के साथ संघर्ष के दौरान १८२६-३४ के बीच अलेकु गीका ने कई बार जर्मनी की यात्रा की। हर बार वह अपने साथ नये-नये ग्रंथ लाता था। इस प्रकार वह गेटे, शेक्स्पीयर, प्लातोन (अफलातून), कांट और शोपेंहावर के ग्रंथ और भगवदगीता का अनुवाद भी अपने साथ लाया था। यद्यापि अलेकु गीका का संस्कृतिक और साहित्यिक गीत-विद्यायों से कोई संपर्क नहीं था, फिर भी वह विश्वव्यापि साहित्य और दर्शन की उत्कृष्ट कृतियों का अध्ययन और चितंत-मनन करता रहा॥

सन् १८३४ तक उसका पिता के साथ संघर्ष चरम सीमा पर पहुँचे गया। वह अपने वैभवपूर्ण जमींदारी के दैनंदिन जीवन से अधिकाधिक घृणा करने लगा। धन -संपत्ति उसे निर्थक लगने लगी। वह सोचने लगा: भैतिक संपत्ति में क्या है? परमात्मा की प्राप्ति कैसे हो सकती है? जीवन का सार क्या है?.. .अब क्या किया जाये? ... कहां जाया जाये? ...क्या फिर जर्मनी की यात्रा करूं? पर वहाँ भी क्या जीवन का रस मिलेगा? तरह-तरह की समस्याएं, जीवन की गुत्थियां उसे परेशान करने लगीं। इसी उधेडबुन में सन् १८३४ की गर्मियों में उसके मन में घोर आध्यात्मिक-विग्रह उत्पन्न हो गया। और वह संसारिक जीवन से ऊब कर वैराग्य की और बढने लगा। परंतु प्रशन उठा कि जार्य कहां? इस भ्रम-जंजाल से छूटकारा कैसे मिले? उसे इन कठिन घोर समस्याओं का समाधान नहीं मिल रहा था। जमनी के भारत-विद्याविशारदों, उनके द्वारा संस्कृत से अनूदित ग्रंथों विशेषकर भगवद्गीत और भारत वर्ष की प्राचीन परंपराओं ने उसे पहले से हो मोहित कर रखा था। जीवन की उदासिनता से वह घवराया हुआ था। अध्यात्मिक भूख से वह तड़पने लगा। अपने हृदय के सबसे गहन कोने में छिपे परम मूल्यों की खोज में, जीवन की पहेली को सुलझाने की खोज में, वह विचलित होने लगा। कहां चला जाये? आकाश के पक्षी की तरह उड़कर अनंत में विलीन हो जाये? सिद्धार्थ की भांति वैराग्य ले ले? अंत में १८5३४ के शरत काल में उसने अपने देश, अपनी धरती, अपनी जागीर और अपने स्वजनों-परिजनों को त्यागने और मन में कललोलित समस्याओं का समाधान ढूंढने के लिए विश्वश्रमण करने का अटल विशवास कर लिया, इतना तो सब जानते हैं कि अलेकु गीका नवंबर सन् १८३४ में इस्ताअम्बुल के लिए रवाना हुआ था, लेकिन वह वहाँ से कहां गया? क्यों नहीं लौटा? आदि बाते बहुत समय तक रहस्य के गर्भ में पड़ी रही॥

अभी कुछ समय पहले इसका पता चला है कि अलेकु गीका सन् १यश८ में जगन्नाथपुरी में था। १८३४ से लेकर १८५८ तक वह कहां रहा और उसने कहां - कहां भ्रमण किया वह कहां -कहां भटका आदि बातें अभी रहस्य ही बनी हुई हैं॥

अलेकु गीका के घर छोडने के बाद गीका परिवार और उसके निकट संबंधियों और परिचितों के बीच यह विवाद चल पड़ा था कि दुनिया से उसका पलायन किन्हीं अमानुषिक अत्याचारों और असह्य अन्यायों के विरोध में एक शांत प्रतिकार के रूप में था और उसके इस प्रकार लुप्त हो जाने का कारण उसका पिता ही था॥

अलेकु गीका के सन् १८५८ में जगन्नाथ पुरी में प्रकट होने से यह प्रश्न उठता है की यायावर

आखिर भारत वर्ष ही क्यों पहुँचा? और क्यों नहीं चीन, जपान, अफ्रीका, अमरीका, अस्ट्रेलिया या विश्व के अन्य देशों में गया? भारत ने उसे क्यों खींच लिया? क्या यह कोई संयोग की बात थी, या स्वनिर्धारित योजना की परिणति थी? इस समस्या का समाधान खोजने पर पता लगता है कि अलेकु गीका ने जिस समय जर्मनी में शिक्षा प्राप्त की थी, तब वह ऐसा समय था जब कि यूरोप के विद्वानों को विशेषकर जर्मन विद्वानों को संस्कृत भाषा और उसके साहित्य का पता लगा था। उस समय उस देश में फ्र० श्लेगेल, फ्र० बोप्प, व० हुम्बोल्द, श्लैयरमाहेर, मैक्स म्यूलर आदि संस्कृत विशेषज्ञों और भारत विद्या-विशारदों की घूम भी जिनके ग्रंथों ने प्राचीन भारत की सहस्रों वर्षों की संस्कृतिक, साहित्यिक, कलात्मक और दाशनिक विद्यों के लिए उत्साह का वातावरण उत्पन्न कर दिया था। कोई आश्चर्य नहीं कि अलेकु गीका को भी प्राचिन भारतिय संस्कृति ने उसी तरह रोमांचित कर दिया हो जैसे लार्ड बाइरन को प्राचिन यूनानी संस्कृति ने किया था और जिसके कारण मिस्सोलोंगी में वह प्रानों का उत्सर्ग करने को विवश हो गया था। यह तथ्य भी कि अलेकु गीका का पुस्तकालय उस अवधि के संस्कृत के उत्कृष्ट अनुवादों से भरा पड़ा था, पुनः प्रमाणित कर देता है कि उसे भारतीय चिंतन प्रणाली का अच्छा परिचय था। इस तथ्य की पृष्टि के लिए यह भी प्रमाण मिलता है कि सन् १८२६-३४ के बीच जब वह जर्मनी की यात्राओं पर गया था, वाइमार नगर में प्रसिद्ध भारतीय विद्यावेत्त फ० मेयेर से उसकी भेंट-वातेएं और विचार-चचोएं हुई थीं। अतेव यह बात निस्संदेह कही जा सकती है कि एक और शोपेंहावेर के ग्रंथों ने और दूसरी और संसार की तृष्णा अतृप्ति ने अलेकु गीका पर निर्णायक प्रभाव डाला और वह भैतिक संसार से वैराग्य लेकर आध्यात्मिक चिंतन में संलग्न हो गया। यह सर्वविदित है कि पश्चिम के बहुसंख्यक शिक्षात लोग शोपेंहावेर के ही माध्यम से उनकी वेदांत और बौद्धदर्शन संबंधी रचनाओं के द्वारा प्राचिन भारतीय विचार धारा से परिचित हुए थे। ऐसे ही लोगों में रुमानिया के प्रसिद्ध कवि मि० एमिनेस्कु भी थे। अतः यह कहना कि अलेकु गीका पर भी शोपेंहावेर की रचनाओं का अन्यतम प्रभाव पड़ा था सर्वथा उचित है॥

अलेकु गीका के कुछ आत्मीयजनों का यह कहना भी कि उसके भारत जाने का कारण उसकी जन्म जात प्रवृत्ति थी आधार रहित नहीं है। देश- विदेश का भ्रमण और लंबी-लंबी यात्राएँ करना गीका के परिवार की एक विलक्षाण विशेषता रही है। अब भी उसके संबंधी गीका परिवार के व्यक्तियों और उनके नते-रिश्तेदारों की लंबी-लंबी यात्राओं से यह बात प्रमाणित होती है। इन की संख्या रूमानिया यायावरों में अधिक होती है। इनका कहना है कि अलेकु गीका का दादा योदाके गीका सन् १७७५ में देश छोड़कर सन् १७७७ में मितिलेना पहुँचा था। अलेकु गीका के बाद भी सन् १८९५-९६ में दिमीत्रिए गीका कोमनेशित ने अपने पुत्र निकोलाए गीका-कोमनेश्त के साथ पूर्वी अफ्रीका के सोमाली लेंड की यात्रा की थी और सन् १८९८ में आलबर्ट गीका मरोह्ली की यात्रा पर गया था। इनके अतिरिक्त गीका परिवार के रिश्तेदार की यात्राओं के भी प्रमाण मिले हैं। अतः यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि अलेकु गीका को पर्यटक बनाने में उसकी जन्मजात प्रवृत्ति एक कारण अवश्य थी। परंतु संसार के त्याग का यह एक मात्र-कारण नहीं हो सकता, इसे विशेष रूप से निर्णायक कारण किसी प्रकार नहीं माना जा सकता। ठोस तथ्यों की और फिर एक बार ध्यान दें तो यह निर्विवाद रूप से श्रात होता है कि अलेकु गीका सन् १८३४ में इस्तांबुल पहुँचा धा, वहाँ से उसने अपने परिवार के लोगों को अंतिम पत्र लिखा था। फिर सन् १८५८ में पुरी के जगन्नथ मंदिर में वह अचानक दिखाई दिया। सन् १८३४ से १८६८ तक के २४ वर्षों के लंबे अंतराल में वह कहाँ रहा यह प्रश्न अब तक प्रश्न ही है। उन २४ वर्षों के रहस्य को जानने के सभी प्रयास, इस लंबी अवधी के वृत्तांत की उपलब्ध जानकारी के आधार पर प्रस्तुत करने के लिए किये गये अनुसंधान अभी अधूरे ही हैं।इस अवधि में उसकी आध्यात्मिक खोजों का पता भी अवश्य घूमिल और टेढा-भेढा रहा होगा। हमें ने उन दर्शन-पद्धतियों का पता है और ने उन धार्मिक विचारधाराओं का जिनके संपर्क में अलेकु गीका इस बीच आया होगा। यह सब अभी

रहस्य ही है। वे कारण भी रहस्यपूर्ण ही होंगे, जिन्होंने उसे जगन्नाथ मंदिर के प्रांगण में लाकर खड़ा कर दिया॥

जगन्नथ मंदिर में अलेकु गीका के निवास पर प्रकाश डलनेवाला अब एक मात्र और निःसंदेश, मूल्यवान और अकाट्य प्रमाण मंदिर का इतिहास ही है, जो महाराज देवियत सिंह के राज्यकाल के तेरहवें वर्ष से आरंभ होता है। इसमें मंदिर के पास मठों का इतिहास भी दिया गया है। इस इतिवृत्त के सत्ताइसवें पृष्ट पर एक अनुच्छेद में फलाहारी मठ और अलेकु गीका का वर्णन मिलता है। अलेकु गीका इसी मठ से संबंद्ध था॥

जगन्नथ पुरी मंदिर के संचालकों की कृपा से मुझे उक्त पृष्ट पर अंकित निम्नलिखित विवरण मिला है:!" अलेकु गीका नाम का व्यक्ति विदेशी मुल्क से शक संवत १८७० वर्ष के १५ वे दिन (सन् १८५८) में यहाँ आया और मंदिर के सिंहद्वार के सामने वटवृक्षा के नीचे उसने दंडवत होकर साष्टांग प्रणाम किया। तब से उसको 'बड़ा छाता' नामक मठ से प्रतिदिन प्रसाद दिया जाने लगा। उस साल के चंदनोत्सव के जुलूस में वह फिर दंडवत प्रणाम करता हुआ चला। सामान्यतया वह मंदिर के आस-पास गरीबों और भूखे-प्यासे लोगों को 'मोहन भोग! (सूजी का बना हुआ हलुवा) मिट्टी के वर्तनों में बांटा करता था और बालगौड़ी मंदिर के पास रहने वाले दिन-दुखियों की सेवा करता था॥

'दीवान बखशी भ्रमरबर ने उसके 'फलाहारी" भोजन के लिए प्रतिदिन एक रूपये का प्रबंध किया था और पुरी नगर के हरचंडी मार्ग पर उसे रहने के लिए जगह दे दी थी। वह 'फलाहारी बाबा! के नाम से विख्यात था। हरचंडी मार्ग पर उसका निवास स्थान, उसके नाम पर 'फलाहारी मठ' हो गया था॥

बुढापे में वह संत अलेकु गीका नाम से प्रख्यात हो गया था॥

'जगन्नाथ मंदिर की और से उसे खंड्आ नामक रेशमी वस्त्र, जो भगवान पर चढ़ाए जाते थे, दिये जाते थे। दरिद्रों की सेवा करने के उपहार में उसे यह कृपा प्राप्त थी। उसके तीन शिष्य थे॥'

यद्यपि इतिवृत्त का यह मूल उद्धरण भी अलेकु गीका की समस्या संबंधी अत्यंत महत्वपूर्ण रूप से प्रश्न का हल नहीं कर रहा है, फिर भी यह मूल्यवान दस्तावेज है। क्योंकि इससे अलेकु गीका के बारे में रूमानिया में प्राप्त इस सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्य की पुष्टि होती है कि वह सन् श्यश८ में जगन्नाथ मंदिर में विद्यमान था। इस दस्तावेज का मूल्य इसलिए और अधिक है कि यह प्रसिद्ध मंदिर का प्रामाणिक इतिवृत्त है॥

प्राप्त इतिवृत्त से यह भी विचार सामने आता है कि पुरी में अलेकु गीका एक तपस्वी संप्रदाय का प्रवर्तक बना और उसने फलाहारी तपस्वियों का संप्रदाय चलाया। इसी कारण हरचंडी मार्ग पर स्थित मठ जिसमें अलेकु गीका रहता था, उस संप्रदाय के नाम पर फलाहारी मठ कहलाने लगा॥

अलेकु गीक के संबंध में यद्यपि हिन्द्र समाज एक बंद है और विस्तृत सूचनाएं अभी नहीं मिलीं तो भी यह सत्य है कि अलेकु गीका पहला यूरोपियन था जिसने सर्वप्रथम हिंदू धर्म के घेरे में प्रवेश किया और उसमें अपनी जड़ जमा ली थी॥

उपयुक्त तथ्य मेरे अब तक के अनुसंधान कार्य का परिणाम है। यह अनुसंधान कार्य अत्यंत सरल साधनों के द्वारा संपन्न हुआ है। इन तथ्यों से अलेकु गीका का रहस्य कुछ ही खुल सका है। इसे पूरे तौर पर खोलनेवाले की प्रतिक्षा करनी पड़ेगी॥

इनका जन्म १६ अगस्त, १९०८ में रूमानिया के उत्तर -पूर्व प्रांत मोलदोवा में। उन्होंने बुखारेस्त के विश्वविद्यालय में भाषा विद्यान व दर्शन का अध्ययन कर वे १२ तक अध्यापन तथा ३ वर्ष तक स्कूल इंस्पेक्टर रहे। दूसरे विश्वमहायुद्ध छिड़ने पर श्री निकोलाए ज़्बेयां को रूमानियन सेना में भर्ती होना पड़ा और वे युद्ध के उत्तरा ्ध में जर्मन फ़ासिस्ट फ़ौज से रूमानिया, हंगरी और चेकोस्लोवेकिया के मुक्तिकरण के लिए लड़े। समाजवादी क्रांति के बाद वे सरकार द्वारा फिर से सेना में भर्ती किये गये,

जिसमें उन्होंने और १८ साल तक देश की सेवा की सन् १९६४ में रिटायर कर्नल हुए। रिटायर होने के बाद उन्होंने विश्वदर्शन तथा और साहित्य के क्षेत्र में अन्वेषण किया और उसी समय से, साथ ही हिंदी और बर्मी भाषा का अध्ययन किया॥

बुखारेस्त के प्राच्य विद्या समाज के सदस्य होकर उन्होंने इस समाज के अन्तर्गत हिंदी भाषा और साहित्य के बारे में भाषण दिये। रूमानियन तथा विश्व साहित्य और दर्शन आदि विषयों पर अनेक लेख प्रकाशित हो चुके हैं॥

श्री ज्वेयां २१ अक्तूबर, १९६९ से केंद्रीय संस्थान, आगरा में हिंदी भाषा और राहुल साहित्य का अध्ययन कर रहे रहे हैं॥